

निबंध

## काले पत्थर की अँगूठी धर्मवीर भारती

22 फरवरी, 1954

भाई पहले की बात जो हों, यह डायरी में कतई उस भरे हुए मन से, पूजा-प्रार्थना की मनःस्थिति में नहीं शुरू कर रहा हूँ जैसे डायरियाँ की थीं, जो कभी तुम्हारी ही मेहरबानी से फाड़-फूडकर जला दी गईं। गंभीरता-वंभीरता की ऐसी तैसी। सोचता हूँ, यह तो तमाम हँसी खुशी वाली शामें बह जाती हैं, अजब-अजब सी घटनाएँ जुगनू की तरह चमककर बुझ जाती हैं, उन्हें क्यों न पन्नों में बाँध डाला जाय। उपन्यासों या कहानियों में ही उन्हें उतारा जाय इसकी कोई कसम खाए थोड़े ही बैठा है। मन होगा उपन्यास कहानियाँ लिखी जाएँगी, नहीं मन होगा नहीं लिखेंगे। जिएँगे तो आराम से, नहीं मरकर चल देंगे, कोई क्या कर लेगा? किसी का उधार खाए बैठे हैं? (खैर भाईजान, उधार तो बहुतों का खाए बैठे हो - ऊँह, होगा, खाए भी बैठे होंगे तो क्या?)

असल बात यह है दोस्त कि कल का दिन बहुत ही दिलचस्प बीता। सुबह उठे। साइकिल उठाई। पहुँचे अपने मित्र दंपती-मेहरोत्रा के यहाँ। असल में एक स्थानीय साहित्यिक संस्था द्वारा दोनों का अभिनंदन होने वाला था। इस नगर में साहित्य प्रेम तो प्लेग की तरह फैला हुआ है न। परिणाम स्वरूप दोनों बहुत घबराए हुए व्याकुल बैठे थे क्योंकि जाते ही मैंने अभिनंदन की बात छोड़ी कि दोनों उछल पड़े। फिर तो वह धमाचौकड़ी मचती रही कि न पूछो। लौटते समय आम का एक बौर और इहलिया के कुछ फूल आत्मन से माँग लाये।

घर आए, खाना खाया, उपन्यास के तीसरे संस्करण का प्राक्कथन लिखा ही था कि दोनों पति पत्नी आ गए। मेरे मित्र ने तय किया कि अभिनंदन के नाम पर उन्हें सख्त बुखार चढ़ आया है अतः केवल उनकी पत्नी जाएँगी। जब वे चली गई तो हम दोनों आराम से जम कर बैठे। इसी बीच में आ गई कलाकार जी। वे अपना काम करती रहीं और हम और मित्रवर आराम से बैठकर परनिन्दा का अपूर्व अलौकिक सुख लेते रहे। मित्र पत्नी लौटकर आई तो जड़े हुए अभिनंदन पत्र लाई। उनके छोटे-से होनहार फूलों के हार ले आए थे जिन्हें आते ही उन्होंने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक हमारे कुत्ते के गले में पहना दिये जो उन्हें दिये जो उन्हें आराम से टुकड़े-टुकड़े कर ऊपर-नीचे, आँगन छत पर बिखेर आया।

और सहसा तय हुआ कि नुमाइश चला जाय। (फरवरी का महीना था मगर माघ मेले में नुमाइश लगी थी)। नुमाइश का तय होते ही वक्त उछलती हुई गेंद बन गया और हम उसे आँगन भर में उछालने लगे। सब लोग उठे।

नीचे आते ही माँ ने सहसा कविताएँ और गीत सुनने का प्रस्ताव रखा। सब लोगों में अप्रत्याशित उत्साह की लहर दौड़ गई। बैठक में जमी गोष्ठी। ने मुश्किल से गला खोलकर स्वर साधा ही था कि पास के चौराहे से धैर्यधन पशुशिरोमणि का करुण उदात्त स्वर उठा-फिर क्या था, हँसते-हँसते हम लोगों का बुरा हाल। बहुत दिनों बाद यह अद्भुत सुख प्राप्त हुआ जो छात्रावस्था में कवियों की कविता सुनकर 'हूट' करने से मिलता था। लेकिन माँ कटिबद्ध थीं कलाकार जी से गीत सुनने को। खैर, हम लोग जिंजर थाम कर बैठे, उनकी बारी आई और गीत हुआ। गीत मधुमास के आने और उससे हृदय में अकस्मात् उत्पन्न हो जाने वाली वेदना आदि से सम्बद्ध था। निश्चय ही वह गीत उन्हीं का था। क्योंकि उसके तुक उत्तम, मध्यम और अधम तीनों ही कोटियों से परे थे और शैली में छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद, तीनों का सानुपातिक सम्मिश्रण था। दूसरी बार भजन की ठहरी और मैंने अत्यन्त शरारतपूर्वक सुझाव दिया-गिरिधर नागर वाले गीत का। उनको इस संदर्भ का आभास भी न था। मैं बहुत ही रस लेता रहा।

लेकिन ज्यों ही हम लोग घर से चले कि श्री... बिलकुल एक नादिरशाह स्टाइल की बड़ी बहन की तरह चौकन्नी हुई और नुमाइश में धँसते ही उन्होंने इन कलाकार जी के बारे में जाँच पड़ताल शुरू की। अब उनकी उत्सुकता का यह हाल कि दूकान पर खड़ी काश्मीरी कालीन देख रही हैं तो एक सवाल दूकानदार से और एक मुझ से उसी साँस में। नतीजा यह कि इस हड़बड़ी में कभी-कभी मेरी ओर मुँह करके पूछें - "इस दरी का साइज क्या है?" और दूकानदार की ओर मुँह करके पूछें - "ये तुम्हें कब से जानती हैं?" मैं भी मन ही मन बहुत पुलकित होता रहा उन्हें थोड़ी तपस्या करायी जब नुमाइश घूम लिए, जायण्ट हवील पर झूला झूल लिए, चाट खा ली और चाय पीने बैठे तब मैंने उन्हें 'मीरा के प्रभु गिरिधर नागर' का सारा आख्यान सुनाया। अब तो सब का हँसी के मारे बुरा हाल।

चाय पीकर फिर एक चक्कर लगाने की ठहरी। पहुँचे हम लोग बाँदे वाली दूकान पर। बाँदे के रंगीन पत्थरों के गहनों की दूकान थी। दूकानदार की बिक्री इक्री कुछ हुई नहीं थी और वह इस तरह चिढ़ा बैठा था गोया हर ग्राहक को कच्चा चबा जाएगा। सामान्यतया समस्त भारतीय जनता और विशेषतः इलाहाबाद की जनता के बारे में उसका दृष्टिकोण बिलकुल वही था जो रूस के बारे में अमेरिका का और अमेरिका के बारे में रूस का है। मैंने बहादुरी से तय किया कि मैं पंडित नेहरू का रोल अदा कर इस गलतफहमी को प्राण देकर भी दूर करूँगा। कुछ न कुछ खरीद कर मानूँगा। बड़े चुनाव के बाद मैंने 16 रुपए की एक अँगूठी पसंद की। काले सुलेमानी पत्थर की खरादी हुई अँगूठी, बीच में पीला नकली पुखराज जड़ा हुआ। सोचा, 'असाधरण' है। जरा जमेगी। उसे बार-बार डिब्बी से निकालकर अँगुली में पहनता, फिर उतारकर रख देता। सोचता था इस पर कौन-कौन क्या-क्या फब्तियाँ कसेगा। सबके व्यंग्य वचन सुन सुनकर लज्जित होने के लिए बड़ी उत्सुकता थी।

दूसरे दिन उसे पहनकर गया। पता नहीं किस बात पर उत्साह में आकर जो मेज पर हाथ पटका तो खटाक से अँगूठी चकनाचूर और मिस्लेदिल उसके हजार टुकड़े और कौन कहाँ गिरा इसका कोई हवाला नहीं। मारे संकोच के मैं कुछ कह नहीं सकता था और तब तक किसी ने मेरी वह प्यारी काले पत्थर वाली अँगूठी देखी भी नहीं थी कि वह चल बसी। लोगों ने पूछा - "क्या टूटा?" क्या बताता। मरे मन से कह दिया, "कफ का बटन टूट गया।" आधे घंटे बाद वहीं जाकर पुखराज उठाया। पता नहीं यह सगुन था या असगुन।

ग्रीक लोगों की एक वीणा होती थी। हवा से बजती थी। डाल पर आहिस्ते से टिका दी। तार झंकार देने लगे। मैंने भी आजकल अपने को बड़ी खूबसूरती से, बड़े आहिस्ते से, कुंजों में, डालों से टिका दिया है। हर हवा का झकोरा मुझे

झंकार देता है। और कुछ हो या नहीं कौन जाने, पर ताजगी तो है।



[शीर्ष पर जाएँ](#)